

## भारत में योग का विकास

### प्रस्तावना:

प्रस्तुत अध्याय में हमने भारत में योग की परम्परा के विकास प्रक्रिया पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। वैदिक युग से लेकर आधुनिक, दार्शनिक एवं धार्मिक साहित्य में योग की अनेक परम्परायें विकसित हो गयी हैं। परन्तु आज भी सुव्यस्थित, संतुलित एवं समग्र योग के दृष्टिकोण से पातंजलि का योग दर्शन सर्वमान्य है तथा अरविन्द का योग समन्वय उत्कृष्ट, दार्शनिक सिद्धान्तों से संलग्न है। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वप्रथम दो निम्न तथ्यों का स्पष्टीकरण आवश्यक है।

- (1) वेद ही आर्यों का सर्वस्व है, स्वतः प्रमाण है तथा सूर्य के समान अपना प्रकाश करता हुआ समस्त अन्य पदार्थों को प्रकाशित करने वाला है। यह सत्यविद्याओं का निधान है तथा उसी के आधार पर अन्य समस्त विद्याओं का विकास हुआ है।<sup>1</sup> वेद की साक्षी के विरुद्ध स्मृति पुराण आदि गन्थों में वर्णित सिद्धान्तों या वाक्यों को अप्रामाणिक जानकर अग्राह्य माना जाता है। इस कारण जीवन के साथ वैदिक स्वाध्याय का घनिष्ठ सम्बन्ध प्रदर्शित करते हुए मनु स्मृति में व्यवस्था की गयी है कि जो द्विज वेद का अध्ययन न कर अन्य शास्त्रों में श्रम करता है, वह बन्धु-बान्धवों सहित शुद्र, (जो पढ़ाने से भी न पढ़ सके) की कोटि में चला जाता है।<sup>2</sup>
- (2) मनु के अनुसार वेद पितृगण, देवता तथा मनुष्यों का सनातन चक्षु हैं।<sup>3</sup> लौकिक वस्तुओं के साक्षात्कार के लिए नेत्र की तथा अलौकिक वस्तुओं के रहस्य को जानने के लिए वेद की उपयोगिता है। वेद का वेदत्व इसी में है कि वह प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा दुर्बोध तथा अज्ञेय उपाय का ज्ञान कराता है।<sup>4</sup> शतपथ ब्राह्मण में वेदाध्ययन

का महत्व प्रदर्शित किया गया है कि धन से परिपूर्ण पृथिवी के दान करने से जितना फल होता है वेदों के अध्ययन से उससे भी बढकर अविनाशी अक्षयलोक को मनुष्य प्राप्त करता है।<sup>5</sup> वेद किसी एक ग्रन्थ का नाम नहीं है बल्कि एक विशेष साहित्य श्रृंखला का नाम है, जो लगभग 2000 वर्षों तक विकसित होती रही।

यद्यपि पातञ्जल योगदर्शन सुव्यस्थित, दार्शनिक सिद्धान्तों एवं व्यवहारिक क्रियाओं का विवेचन प्रस्तुत करता है परन्तु स्वयं पतंजलि ने भी यह स्वीकार किया है कि उन्होंने अपने से पूर्व साहित्यों में उपलब्ध योग के अर्थ, विवरण, क्रियायें, अभ्यास, उपलब्धियां एवं उद्देश्यों को व्यवस्थित एवं अनुशासित ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास पातञ्जल योगदर्शन में किया है एवं उन्होंने स्वयं भी वैदिक देवता हिरण्यगर्भ को योगशास्त्र का मूल प्रणेता स्वीकार किया है। अतः वैदिक योग का आदि प्रवक्ता हिरण्यगर्भ परमात्मा ही है।<sup>6</sup>

पातञ्जल योगदर्शन को सर्वमान्य मापदण्ड के रूप में स्वीकार करते हुए इस अध्याय में हम भारतीय दर्शन के कुछ उन प्रमुख विचारधाराओं में योग के प्रयोग एवं उपलब्ध के तत्व के आधार पर योग की विवेचना करेंगे। इसमें मुख्यतः वेद, उपनिषद, सांख्य, एवं गीता में वर्णित योग के स्वरूप पर ध्यान केन्द्रित किया गया है, इन चारों दर्शनों में योग के स्वरूप का विवेचन करते के पीछे वैध कारण हैं। वैदिक दर्शन में प्रकृति पूजा के कार्य बहुदेववाद, ऐकेश्वरवाद में विश्वास के साथ ही आत्म-ज्ञान के प्राप्ति में या आत्मज्ञान की अवस्था में अधिष्ठित होता इन सभी प्रसंगों में योग का प्रयोग मिलता है। ये सभी प्रसंग कहीं न कहीं से पातञ्जल योग परम्परा को सिंचित एवं पूरा करता है या दूसरे शब्दों में पातञ्जल योग-दर्शन की पृष्ठभूमि तैयार करता है।

दूसरा उपनिषद विचार धारा में उपलब्ध योग के तत्वों पर विचार इसलिये किया गया है कि पातञ्जल दर्शन में वर्णित शारीरिक एवं मानसिक विकार को चित्त की वृत्तियों को एवं पंचक्लेश को सम्यक् रूप से समझने के लिये उपनिषद का पंचकोष विवरण ठोस आधार प्रस्तुत करता है।

सांख्य में विवेचित योग के स्वरूप का अध्ययन पातञ्जल योग-दर्शन को समझने की पूर्व अपेक्षा है। अनेक विद्वानों ने सांख्य को सैद्धान्तिक तथा योग को उसका व्यवहारिक पक्ष कहा है। सांख्य में प्रस्तुत विविध दुःख पुरुष का भ्रमित होकर अविद्यावश प्रकृति के स्वरूप को अपना स्वरूप समझना एवं सुख दुःखादि अनुभूतियों के कारण बंधन में पड़ना, सांख्य को एक नैतिक समाधान खोजने के लिये विवश करता है। जो मानव का उसके विशुद्ध चैतन्य पुरुष रूप का ज्ञान कराये, क्लेशों से मुक्त करे, वृत्तियों को हटाये एवं कैवल्य की ओर अग्रसर करे। सांख्य के इसी नैतिक खोज का उत्तर पातञ्जल योग दर्शन व्यवहारिक धरातल पर प्रस्तुत करता है।

गीता में वर्णित योग परम्परा को यहाँ पर इसलिये विवेचित किया गया है ताकि योग परम्परा को व्यवहारिक एवं सांसारिक कर्तव्यों से विमुखता का आधार न बना लिया जाय। स्वस्थ एवं सम्यक् योगाभ्यास योग दृष्टि स्थिति प्रज्ञयता सांसारिक कर्तव्यों की विविधता के साथ भी उपलब्ध हो सकती है। उसके लिये वैदिक कालीन आरण्यकवासी ऋषियों का जीवन व्यतीत करना एवं साधना हेतु सांसारिक कर्तव्यों से विमुख होना औचित्यपूर्ण नहीं है। अतः गीता दर्शन योग के प्रयासों एवं उद्देश्यों को सीमित दायरे से निकालकर एक व्यापक पटल पर प्रस्तुत करता है। चार दार्शनिक सम्प्रदाओं में योग के तत्व एवं विवरण प्रस्तुत करते के पश्चात् हम सर्वप्रथम वेदों में योग का क्या वर्णन मिलता है?, इस पर विचार करते हैं।

## वेदों में योग के तत्व:

एन.के. देवराज ने लिखा है कि “वैदिक वाङ्मय में योग के तत्व बिखरे पड़े हैं”। राधा कृष्णन एवं एस.एन. दासगुप्ता ने इसका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है कि पातञ्जल योग दर्शन में योग के कौन से तत्व वेद की किस संहिता एवं प्रसंग से किस उद्देश्य के तहत लिये गये एवं कैसे व्यवस्थित किये गये, इन्हीं सब तथ्यों का संक्षिप्त प्रारूप हम इस अनुभाग में प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे और यह समझने का प्रयास

करेंगे कि वेदों की मूल अवधारणा एवं भारतीय दार्शनिक विचारों के विकास में इनका क्या स्थान एवं योगदान है? वैदिक साहित्य को प्रायः चार वर्गों में बाँटा जा सकता है।

1. संहिता
2. ब्राह्मण
3. आरण्यक
4. उपनिषद् ।

चार वेदों का उल्लेख प्रमुखता से प्राप्त होता है -

1. ऋग्वेद
2. सामवेद
3. यजुर्वेद
4. अथर्ववेद ।

1. ऋग्वेद- सबसे प्राचीन है।

2. सामवेद- की अपनी कोई स्वतन्त्र विषयवस्तु नहीं है। सामवेद में ऋग्वेद की ही ऋचाओं का उद्धृत किया गया है। इसीलिए सामवेद को कीर्तन या गायन वेद मानते हैं।

3. यजुर्वेद- में ऋग्वेद से उद्धृत विषय के अतिरिक्त अनेक नये प्रसंग भी हैं। यजुर्वेद में विषय को पूजन, बलि आदि की क्रिया में प्रयोग किए जाने के क्रम से प्रस्तुत किए गया है।

4. अथर्ववेद- बहुत बाद की रचना है। यह ऋग्वेद से बहुत भिन्न है। इसमें प्रेतों को प्रसन्न करने के मन्त्र, कीर्तन तथा अन्य उपाय प्रमुख रूप से वर्णित हैं। इसमें स्वास्थ्य व चिकित्सा सम्बन्धी कुछ बातें हैं, इसीलिए आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद कहा जाता है।<sup>7</sup>

योग के अन्तर्गत आये प्राण शब्द का प्रयोग वेदों में विभिन्न अर्थों में हुआ है -

1. ऋग्वेद में प्राण शब्द विभक्तियों से युक्त नौ बार प्रयुक्त हुआ है।<sup>8</sup> 2. यजुर्वेद में प्रत्ययान्त तथा विभक्त्यन्त प्राण शब्द 49 बार आया है।<sup>9</sup> 3. सामवेद में प्राण शब्द प्रथमा बहुवचनान्त तथा पंचमी एकवचनान्त में 6 बार प्रयुक्त हुआ है।<sup>10</sup> 4. अथर्ववेद में प्राण शब्द सभी विभक्तियों में तथा प्रणापान समस्त पद लगभग 111 बार प्रयुक्त हुए हैं।<sup>11</sup>

ऋग्वेद के एक मंत्र में स्पष्ट किया गया है कि योग से विभिन्न प्रकार की सिद्धि चाहने वाले योगाभ्यासी पुरुष निरन्तर गमनशील प्राणों को नाड़ियों में कुम्भक आदि उपयुक्त क्रियाओं से मूलबन्ध जालन्धर आदि बन्धों के साथ अवरुद्ध करते हैं तो शरीर में सम्यक् प्रकारेण रूधिर संचार तथा सृष्ट बल का आधान होता है।<sup>12</sup> सात्विक आहार, ब्रह्मचर्य-पालन, प्राणायाम तथा व्यायाम से यथेष्ट शारीरिक बल की प्राप्ति होती है। वर्तमान में इसी विधि से शारीरिक शक्ति बढ़ाकर, मोटर रोकना, जंजीर तोड़ना, छाती पर पत्थर तुड़वाना आदि अनेक प्रदर्शन किए जाते हैं।<sup>13</sup> ऋग्वेद के अनुसार साधक आसन सिद्ध होने पर अपनी मनःस्थिति को अभिव्यक्त करता है कि आसन पर बैठे हुए मुझ पर सत्य साक्षात्कार की कामनायें आरोहण करने लगी हैं तब हृदय के प्रति उन कामनाओं को ऐसे कहता हूँ जैसे बालक को उसके अन्तरंग मित्र बुलाते हैं।<sup>14</sup> सामवेद की एक ऋचा में रथेभिः शब्द इस बात का द्योतक है कि जब तक जीवात्मा शरीर में रहता है, तभी तक योग-साधनाओं के कारण परमात्मा को पा सकता है। बिना शरीर के न साधनाएं हो सकती हैं और न परमेश्वर को ही पाया जा सकता है।<sup>15</sup> सामवेद में ध्यान करने की प्रमुख नाड़ी सुषुम्ना का वर्णन उपलब्ध होता है।<sup>16</sup> तथा भक्तिरस को योगी का भोजन बताया है कि परमेश्वर जब हमारे साथ मिलकर भक्तिरस और आनन्दरस के पारस्परिक भोग से प्रसन्न हो जाता है, तब आध्यात्मिक सम्पत्तिशाली वेदवाणियां हमें बहुत बल प्रदान करती हैं।<sup>17</sup> सामवेदीय ऋचाओं में भी प्राणायाम से इन्द्रियों एवं मानसिक पापवृत्तियों का नाश करने के लिए प्रेरित किया गया है।<sup>18</sup> रेचक प्राणायाम करते समय साधक वायु-निस्सारण काल में मनोबल के द्वारा एक-एक दुर्गुण को निकालने का संकल्प करता जाता है तो धीरे-धीरे दुर्गुणों का विनाश हो जाता है।<sup>19</sup> यजुर्वेद में वाणी, नेत्र, श्रोत्र, नाभि, उपस्थ, वायु आदि शरीरावयवों की शुद्धि की आवश्यकता विद्या-योगाभ्यास के लिए बतायी गई है।<sup>20</sup>

यजुर्वेद में धारणावाची 'धृतिः' पद का प्रयोग चार मन्त्रों में हुआ है।<sup>21</sup> एक मन्त्र में 'चेतो धृतिः' के उल्लेख से स्पष्ट होता है कि धृति-धारणा, चेतः-चित्त का ही धर्म है। पंतजलि का सूत्र इस मन्त्रांश से समता रखता है।<sup>22</sup> यजुर्वेद में प्रतिपादित है कि - ध्यान

करने वाले विद्वान लोग यथायोग्य विभाग से नाड़ियों में अपने आत्मा से परमेश्वर की धारणा करते हैं जो योगयुक्त कर्मों में तत्पर रहते हुए ज्ञान एवं आनन्द को योगयुक्त कर्मों में तत्पर रहते हुए ज्ञान एवं आनन्द को फैलाते हुए विद्वानों के मध्य प्रशंसा को पाकर परमानन्द के भागी होते हैं।<sup>23</sup> यजुर्वेदीय मन्त्र में भी प्रेरणा दी गयी है कि- 'हे योग के जिज्ञासु मनुष्यो! जैसे मैं सत्यभाषणयुक्त योगी, स्मृति, प्रार्थना, उपासनारूप सत्कार से पूर्व योगिजनों से प्रत्यक्ष किये हुए सर्वव्यापक ब्रह्म को आत्मा में साक्षात् करता हूँ ...उनसे आप लोग भी योग विद्या का श्रवण करो।'<sup>24</sup>

अथर्ववेद के प्राण-सूक्त में प्राणायाम का अभ्यासी आने वाले प्राण को हितकारी मानता हुआ नमस्कार करता है। अन्दर से बाहर जाने वाले प्राण के लिए नमस्कार करता है। अन्दर लेकर अर्थात् पूरक सहित स्थिर किए हुए प्राण को इसी प्रकार रेचक सहित कुम्भक प्राण को नमस्कार करता है। 'ओउम्' का जप-ईश्वर का मुख्य नाम 'ओउम्' है। अथर्ववेद में उसी के द्वारा परमात्मा को पुकारने का विधान है। मन्त्र में कहा गया है कि सूर्योदय से पूर्व तथा उषा से भी पूर्व जो परमात्मा के नाम 'ओउम्' द्वारा उसका स्मरण करता है वह स्वात्मराज्य को प्राप्त कर लेता है अर्थात् मन आदि एकाग्र होकर आत्मा के अधीन हो जाता है। जिससे बढ़कर अन्य कोई स्थिति नहीं है। अथर्ववेद में प्राणायाम की उपयोगिता निरूपित है। यहाँ मन्त्रों में प्राण के लिए 'ओषधस्यः' - 'भेषजनम्'<sup>25</sup> आदि शब्द प्रयुक्त हैं।

अथर्ववेदीय प्राणविद्या से ही सम्भवतः हठयोग के अन्तर्गत विभिन्न प्रयोजनों को लक्ष्य बनाकर प्राणायाम प्रकारों का अविष्कार किया गया है। योग का मूल स्वरूप बड़े अच्छे ढंग से वेदों और उपनिषदों में वर्णित है। गीता में तो साँख्य योग का वर्णन स्वयं भगवान श्री कृष्ण जी ने किया है। वेदों में वर्णित योग की उपनिषदों में भी चर्चा की गयी है। वेदों में बताये गए ज्ञान योग, भक्ति योग, कर्मयोग गीता में बताये गए ज्ञान, भक्ति, कर्मयोग ही है। साँख्य के 25 तत्वों को अपनाकर तथा उन तत्वों पर नियन्त्रण करके ही योगाभ्यासी योग द्वारा बताये 26 तत्व ईश्वर को अपनाकर, आत्मा को परमात्मा में लीन

करता है। आत्मा को परमात्मा में लीन करने के लिए साधक को वेदों में बताए गए योग साधन को अपनाकर तथा श्रद्धा, विश्वास, भक्ति, कर्म को धारण कर योग मार्ग में आगे बढ़ना है।

उपनिषद में आसन, प्राणायाम, ध्यान आदि का बड़े सुन्दर ढंग से वर्णन किया गया है। प्राणायाम की विधि के कारण हठयोग से इसमें कुछ अन्तर दिखता है। अन्य ग्रन्थों में बहुत से प्राणायामों का वर्णन मिलता है। गीता के प्रत्येक अध्याय का नाम किसी न किसी प्रकार के योग पर ही है। जैसे दूसरा अध्याय- साँख्ययोग, तीसरा कर्मयोग, चौथा ज्ञान-कर्म-सन्यास योग, पाँचवा कर्म-सन्यासयोग, छठा आत्मसंयम योग, सातवां ज्ञान-विज्ञान योग इत्यादि हैं। गीता में अधिक प्रधानता निष्काम कर्म को दी गयी है तथा प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि का उल्लेख अनेक स्थानों पर किया गया है। भगवान श्री कृष्ण ने गीता में बतलाया है कि बुद्धिजीवी मनुष्य के लिए साँख्य व योग एक हैं तथा बुद्धिहीन के लिए पृथक् हैं। लेकिन साँख्य तथा कर्मयोग में कुछ अन्तर अवश्य है। गीता के पाँचवे अध्याय 8-9 में साँख्य योगी का वर्णन इस प्रकार है कि- मैं कुछ नहीं करता। जो भी व्यवहार होता है वह केवल इन्द्रियाँ अपने आप विषयों में बर्तती हैं तथा कर्मयोग के अनुसार निष्काम कर्म करना, फल की इच्छा न करना, बतलाया है। इसी प्रकार कर्मयोग का पालन करने वाला अपने को कर्मों का कर्ता समझता है। फल की इच्छा यद्यपि उसे नहीं रहती, पर साँख्य योग का अनुयायी अपने कर्मों का कर्ता भी नहीं समझता। बस आत्मा को निर्लेप समझकर यही मानता है कि प्रकृति इन्द्रियों से काम कराती है। मुझे आत्म स्वरूप को उससे कुछ लेना-देना नहीं।

वेद, भारत की प्राचीनतम ग्रंथों की श्रेणी में रखा जाता है, जिसे समस्त विश्व को अपने ज्ञान से आलौकित करने का श्रेय भी दिया जाता है। मनुस्मृति में इस बात के संकेत मिलते हैं कि मानव समुदाय वैदिक शब्दों को आधार मानकर ही अपनी - अपनी भाषाओं एवं विकास के संस्थाओं का निर्माण करता है। रचना की दृष्टिकोण से वेद को औपौरुषिय माना जाता है, इसीलिये यह नित्य एवं अनादि कहे जाते हैं। संख्या की

दृष्टिकोण से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद ही सर्वमान्य एवं प्रतिष्ठित माने जाते हैं। कालान्तर के अन्य अनेक ग्रन्थ भी सामने आये जिन्हें उपवेद की श्रेणी में रखा गया।

वेदों का सामान्य परिचय देने के बाद अब हम वेद में उपलब्ध योग के तत्वों के वर्णन पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। चारों वेदों में योग शब्द का प्रयोग मूलतः संयोग, प्रयत्न, सिद्धि एवं विशिष्ट शक्ति के रूप में प्रयोग किया गया है।

ऐसा माना जाता है कि वैदिक मंत्र मात्र स्तुति एवं यज्ञपरक अर्थों में प्रयुक्त होता है, परन्तु यज्ञ हेतु प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों के अन्तर्निहित अर्थों में योग के प्राथमिक स्तर के बीज उपलब्ध होते हैं। विज्ञानभिक्षु ने इस तत्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है -

“सर्ववेदार्क सायोज्ञ वेदव्यासेत भाषितः।

योग भावमामि षेणातो मुमुक्षुमिदंगतिः।।”<sup>26</sup>

व्यास की योग सारिका में योग विद्या का ही स्पष्टीकरण है। उसमें वर्णित विषय को यहाँ वेदार्थ के साररूप में स्वीकार किया गया है। अतः यह तथ्य पूर्णतया प्रमाणित हो जाता है कि वेदों में निहित गूढ़ अर्थ का ही स्पष्ट रूप से सम्पूर्ण योगशास्त्र में प्रतिपादन है।

वेदों में योग शब्द का प्रयोग अत्यन्त सीमित अर्थ में न करके उपासना योग, चित्तवृत्तिनिरोध, समाधि एवं कुण्डलिनी ज्ञान इन सभी रूपों में प्रयुक्त हुआ है एवं सभी अर्थ प्रसंगानुकूल हैं। इसका प्रमाण आगे पृष्ठों में उपलब्ध है। योग शब्द के स्पष्ट प्रयोग के अतिरिक्त प्रकरण आधारित विचारों से भी वैदिक काल के योग की अवधारणा भी इस बात की पुष्टि मिलती है और इसके लिये विद्वानों के द्वारा तीन तर्क दिये गये हैं -

- (1) **ऋषिदर्शनार्थ** - व्यास ऋषि का यह वचन इस कथन की पुष्टि करता है कि ऋषियों ने योग के तंत्र से ही मंत्र में निहित तत्वों का साक्षात्कार किया। यद्यपि वहाँ पर योग की प्रक्रिया का उतना विस्तृत एवं व्यवस्थित विवरण वही मिलता जितना पातञ्जल योगशास्त्र में है।

- (2) वैदिक परम्परा में प्रयुक्त मंत्र शब्द का अर्थ मनन है। मंत्र प्रतिपाद्य विषयों की आन्तरिक मनन सतर्क ही साक्षात् उपलब्धि हुई है एवं इसी प्रक्रिया से मंत्र दर्शन सम्भव हुआ है। यद्यपि मंत्र दर्शन या मंत्र प्रयोग देव तिझिवर की उपासना हेतु प्रयुक्त हुआ है परन्तु मंत्र दृष्टा बनते ही स्थिति तक पहुँचना कठिन यौगिक अभ्यास के बिना सम्भव नहीं हो सकता। इस अर्थ में भी निश्चित रूप से योग की परम्परा विद्यमान रही होगी। तारक ज्ञान का उल्लेख वैदिक साहित्य एवं पातञ्जल योग सूत्र दोनों में उपलब्ध होता है। दोनों के बीच मजबूत संपर्क सूत्र को स्पष्ट करता है। अतीत अनागत सभी विषयों का बोध ही तारक ज्ञान का परिचालक है।
- (3) यद्यपि वैदिक कालीन संहिताओं एवं ऋचायें आदि दैविक, आदि भौतिक एवं आध्यात्मिक तीनों ही अर्थों को प्रकाशित करती हुई स्पष्टतः सांख्य का आधार प्रतीत होती है परन्तु आत्म साक्षात्कार एवं दैविक अनुकृपा की प्राप्ति हेतु मंत्रों के सहयोग से आध्यात्मिक उपलब्धि कहीं न कहीं से आत्म चैतन्य तत्व है। ज्ञान एवं कैवल्य के निकट प्रतीत होती है। इस संदर्भ में भी योग की पुनः परम्परा की उपस्थित को नकारा नहीं जा सकता।
- (4) संक्षेप में हम कह सकते हैं कि योग के शाब्दिक शब्द के प्रयोग के पीछे वैदिक ऋषियों का निश्चित प्रयोजन था, उन्होंने जगत के मूल रूप में एक अद्भुत शक्ति को स्वीकार किया था, जिसे प्रकृति का नाम देकर उसके रहस्यों एवं शक्तियों को जानने के लिए तप एवं योग का आश्रय लिया था। मानव इस बात से भली-भाँति परिचित था कि उसकी शक्तियाँ सीमित हैं। इन सीमित शक्तियों को विकसित करने के तीन आयाम, कर्म, योग एवं ज्ञान थे। इन्हीं तीन दिशाओं में वे अपनी अन्तर्दृष्टि विकसित करके सिद्धि एवं शक्ति प्राप्त करने हेतु प्रयासरत थे।

वेदों में योग की शाब्दिक प्रयुक्ति, प्रकरण एवं प्रसंगतः विवरण के प्रस्तुत करने के पश्चात् अब हम वेदों में योग की कौन से मूल तत्व भी उपलब्ध हैं? इस पर विचार करते हैं। यद्यपि सीमित अध्ययन के आधार यह कहना कठिन होगा कि योग के समस्त तत्वों का

विवेचन वेदों में उपलब्ध है या नहीं, फिर भी पातञ्जल योग के कुछ तत्वों का स्पष्टः प्रयोग उपलब्ध होता है। हमारा प्रयास उन्हीं तत्वों पर प्रकाश डालने का होगा।

वेदों में वर्णित तीन आयाम कर्म, योग एवं ज्ञान का आविर्भाव प्राप्त होता है। जिसमें कर्म को व्यक्ति (पुरुष) के द्वारा किया जाना प्रयुक्त हुआ तथा योग के द्वारा समस्त शारीरिक एवं मानसिक विकारों (क्लेशों) को क्षीण किया गया तथा ज्ञान के द्वारा आज्ञान का नाश होने की परिकल्पना को स्वीकार्य किया गया। पतंजलि भी अपने अष्टांग योग मार्ग के द्वारा शारीरिक मानसिक आदि क्लेशों को दूर करने का मार्ग बताता है क्योंकि शरीर स्वस्थ होने की प्रक्रिया के बाद ही कर्म व ज्ञान की उत्पत्ति होना स्वाभाविक है। वेद में मूलतः पातञ्जल योग दर्शन में उपलब्ध योग सम्मत शरीर - विज्ञान एवं अष्टांग योग के कुछ तत्वों का स्पष्ट प्रयोग परिलक्षित होता है अब हम उनको प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

## वेदों में योगः

“वेद सर्व सत्यविद्याओं का पुस्तक है।” मानवीय जीवन की समस्त समस्याओं का समाधान वेदों में निबद्ध है। यह मान्यता सर्वविदित है कि सब सत्य विधाओं में प्रमुखरूपेण ब्रह्मविद्या-अध्याम विद्या है, अर्थात् योग विद्या से घनिष्ठ सम्बन्ध हैं।<sup>27</sup>

## वेदों में वर्णित योगतत्वों तथा योगानुष्ठानः

विषयक ईश्वराज्ञाओं से स्पष्ट हो जाता है कि वेद में योग पर कई स्थानों पर चर्चा हुई है। ईश्वर यजुर्वेद (अध्याय ग्यारह मंत्र एक से पाँच) में योगाभ्यास के लिये उपदेश करता है।

प्रथम चार मंत्रों में उपासना का महत्व बताने के पश्चात् परमेश्वर उपासना का उपदेश करने वाले एवं ग्रहण करने वाले दोनों के प्रति प्रतिज्ञा करता है कि ‘जब तुम सनातन ब्रह्म की सत्य, प्रेम, सेवा एवं श्रद्धाभाव से अपने आत्मा को स्थिर करके

नमस्कारादिपूर्वक उपासना करोगे तब मैं तुमको आशीर्वाद दूँगा कि सत्यकीर्ति तुम दोनों को ऐसे प्राप्त हो जैसे कि परम् विद्वान को धर्म-मार्ग यथावत् प्राप्त होता है। पुनः परमेश्वर मुमुक्षुजनों को उपदेश करता है कि - हे मोक्षमार्ग का अनुसरण करने वाले मनुष्यों, तुम सब लोग ध्यान देकर सुनो कि जिन दिव्य लोकों अर्थात् मोक्षसुखों को पूर्वज लोक प्राप्त हो चुके हैं, उसी उपासना-योग से तुम लोग भी उन सुखों को प्राप्त करो इसमें संदेह न करो। इसीलिये मैं तुम्हें उपासना-योग से युक्त करता हूँ।<sup>28</sup> योग के प्रणेता “हिरण्यगर्भ की स्तुति वेदों में अन्यत्र भी की गई है।”<sup>29</sup>

अतः वैदिक - योग का आदि प्रवक्ता हिरण्यगर्भ परमात्मा ही है। योग की चर्चा चारों वेदों में अनेक स्थानों में पायी जाती हैं। ऋग्वेद में लिखा है -

“यस्माहते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन धीना योग मिन्वति।”

अर्थात् योग के बिना विद्वान का भी कोई यज्ञ-कर्म सिद्ध नहीं होता। यह योग चित्त वृत्तियों का निरोध करना है।

“सघानों योग आभुक्त् स राये स पुर ध्याम् गमद वाजे भिरास नः।”<sup>30</sup>

अर्थात् वही परमात्मा हमारी समाधि के लिये अभिमुख हो, वही विवेक, ख्याति रूपी धन या अनन्त वस्तु विषयक होने से बहु विधि-बुद्धि एवं ऋतम्भरा ज्ञान के उत्पादन निमित्त अनुकूल हों।

क्व त्रोच का त्रिवृतो रथस्य क्व त्रयो बन्धुरो चे सनीलः ।

कदा योगो वासिनो राश्वस्य चेन यज्ञ नासत्योपयाथः।<sup>31</sup>

अर्थात् यह शरीर जो अग्नि, जल, पृथ्वी इन तीनों भूतों से बना है इसके नीचे के तीन चक्र (मूलाधार आदि) कहाँ हैं?, ऊपर के तीन चक्र कहाँ हैं ? शिव शक्ति, संगम रूप, रासलीला का स्थल कुण्डलिनी भी कहाँ है? हे अविनाशी पिता! आपकी कृपा से मुझे यह सब ज्ञात हो जिससे मैं योग में संलग्न हो सकूँ।

## वेदों में योग सम्मत शरीर विज्ञानः

अथर्ववेद में इस शरीर को आठ चक्र एवं नव द्वारों वाली देवताओं की अयोध्यापुरी कहा गया है - इस अयोध्यापुरी में परमात्म ज्योति हिरण्यमय कोश से आवृत रहती है।

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या  
तस्या हिरण्यमयो कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥  
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः।<sup>32</sup>

अर्थात् आठ चक्र एवं नवद्वारों वाली देवताओं की अयोध्यापुरी है, जिसमें ज्योति हिरण्यमय कोश से आवृत है। उसी तीन अर वाले हिरण्यमय कोश में निहित पूजनीय आत्मस्वरूप ब्रह्म को ब्रह्मज्ञानी जानते हैं। इसी प्रकार -

पुण्डरीकं नवद्वार त्रिभिर्गुणैर्मिरा वृतम्  
तस्मिन् यद् यक्षतात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः॥<sup>33</sup>

चक्र, नवद्वार, पुण्डरीक, त्रिगुण आदि योगशास्त्र में परिभाषित शब्द हैं।

## वेदों में यम-नियमः

वेदों में अनेक स्थलों पर योगशास्त्र के यम-नियम में विदित सत्यादि की शिक्षा दी गई है। अथर्ववेद में 'वाचावदामि मधुमत्' <sup>34</sup> द्वारा सत्य एवं मधुर वाणी के प्रयोग का उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद के अधोलिखित मंत्र में सत्य एवं अहिंसा (का निरूपण हुआ है)।

“ऋतधीतय आ गत सत्यधर्माणो अध्वरम्।”<sup>35</sup>

अर्थात् सत्य को धारण करने वाले सत्कर्म विद्वज्जन आप लोग अहिंसा रूप व्यवहार को प्राप्त हों।

ऋग्वेद के निम्नलिखित मंत्र में धन की निःसारता प्रदर्शित की गयी है -

“ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमुपतिष्ठन्ति रायः।”<sup>36</sup>

अर्थात् 'राय' रथ के पहियों की तरह आवर्तित होने वाली हैं। जो कभी किसी व्यक्ति के समीप रहती हैं तो कभी किसी व्यक्ति के समीप रहती हैं। पुनः स्तेय एवं अपरिग्रह का निर्देश देते हुए यहीं पर कहा गया है -

“ईशावस्यमिद सर्व यत्किञ्चित् जगत्यां जगत्  
तेन व्यक्तेन भुञ्जीया मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।”<sup>37</sup>

अथर्ववेद के अनेक मन्त्रों में ब्रह्मचर्य द्वारा परमात्मा के प्रकटीकरण का कथन है।<sup>38</sup>

“यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।”<sup>39</sup>

इस उक्ति में दीक्षा एवं तप द्वारा ब्रह्मज्ञानी जनों द्वारा प्राप्त लोक का कथन है। निम्नलिखित मंत्र में ईश्वरप्रणिधान का निरूपण है-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।  
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्मि न कर्म लिप्यते नरः।।<sup>40</sup>

अर्थात् इस संसार में कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करें। इस प्रकार किसी अन्य को छोड़कर तुम्हारे (ईश्वर) में ही कर्म समर्पण करने से मनुष्य कर्म में लिप्त नहीं होता (यजुर्वेद में व्रत का उल्लेख हुआ है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने व्रत की योग शास्त्र के यम का परिचायक मानकर उसका यम सम्बन्धी अर्थ किया है)।

‘व्रतेन दीक्षमाप्नोति दीक्षचारप्नोति दक्षिणाम्  
दक्षिणया श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्नोति।’<sup>41</sup>

अर्थात् वृत्त के अनुष्ठान से मनुष्य दीक्षा को प्राप्त होता है, दीक्षा से सत्कार रूप दक्षिणा मिलती है। दक्षिणा से (सत्याचरण की) श्रद्धा से परमार्थ सुख प्राप्त होता है।

इसी प्रकार - “अभ्याद्धामि समिधमग्ने व्रतपते त्वचि।

वृतं च श्रद्धां चौपमीन्धेत्वा दीक्षितोऽहम्।।”<sup>42</sup>

यहाँ व्रत का तात्पर्य यम से हो सकता है क्योंकि पा०या०सू० २/३ में भी यम को “सार्वभौम महाव्रत” कहा गया है।

यजुर्वेद में शरीर के समस्त उपकरणों के शुद्धिकरण (शौच) की इच्छा व्यक्त करते हुए अभिहित है कि -

“प्राणश्च मे अपानश्च मे व्यानश्च मे,  
चित्त च आधीतं च मे वाक् च मे मनश्च मे चक्षुश्च मे  
श्रोत्र च मे दक्षश्च मे बलं च मे यज्ञेन कल्पताम्।”<sup>43</sup>

उपर्युक्त विवरण पर दृष्टिमात्र करने पर यह स्पष्ट होता है कि वेदों में एकत्र यम-नियम की संज्ञा पूर्वक यम-नियम के विदित आचारों का वर्णन नहीं है तथापि मंत्र का प्रकीर्ण वैदिक मंत्रों में यम-नियम के सभी तत्व निहित हैं।

इस मंत्र में प्राणायाम का उल्लेख है -

‘स य एव विदुष उपद्रष्टा भवति प्राणं रूपद्वि।’<sup>44</sup>

वेदों के कुछ अन्य योग विषयक मंत्र -

‘युक्तेन मनसा वच देवस्य सवितुः सवे।  
स्वर्मान शक्त्या।’<sup>45</sup>

मोक्ष की इच्छा रखने वाले हम (योगी) लोग युक्त मन से (शुद्धान्तकरण से) योग बल द्वारा प्रकाशमय आनन्द स्वरूप सर्वान्तर्यामी अनन्त एश्वर्य स्थित होते हैं।

‘तद्विप्रासो विपन्वयो जागृवांसः समिन्धते।  
विष्णोर्चरपरमं पदम्।।’<sup>46</sup>

अर्थात् हे मनुष्यो! अविद्या रूपी निद्रा से उठकर चैतन्यता पूर्वक ईश्वर की स्तुति करने वाले एवं बुद्धिमान योग सर्वत्र व्यापक मोक्षदायी जिस परम् पद को सम्यक् रूप से प्रकाशित करते हैं, उसी को तुम भी प्रकाशित करो।

सप्तस्यासन् परिधर्यास्त्र सप्तसमिधा कृतः।

देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुष पशुम्।<sup>47</sup>

सात गायत्री आदि छन्दों को चारों ओर से सूत से चार लपेटों के समान मानकर प्रकृति, महत्, तत्त्व, अहंकार, पंचसुक्ष्म भूत, पंचस्थूल भूत, पंचज्ञानेन्द्रिया एवं सत्त्व, रजस, तमस तीन गुणों को साम्रगी रूप से प्रयुक्त जिस मानस यज्ञ को विस्तृत करते हुए विद्वान लोग परमात्मा रूपी पशु को (हृदय) में बाँधते हैं, उसी यज्ञ को तुम भी सम्पादित करो ।

‘उपह्वरे गिरीणा सङ्गमे च नदीनाम्।

धियो विप्रो अजायत।<sup>48</sup>

अर्थात् पर्वत की गुफाओं में नदियों के संगम पर ब्राह्मण (योगी) (ज्ञान को प्रकाशित करने वाली) बुद्धि को प्रकट करते हैं।

‘युञ्जानः प्रथमं मनस्त्वाय सविता धियम्।

अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्यपृथिव्या अध्याभरत्।<sup>49</sup>

अर्थात् (योगीयों द्वारा) तत्त्वज्ञान के लिए मन को समाहित करने पर परमेश्वर उसकी बुद्धि को (विस्मृत करता है जिसके फलस्वरूप) वे परमेश्वर के प्रकाश स्वरूप का यथावत् निश्चय करके धारण करते हैं, पृथ्वी के मध्य योगी का यही लक्षण है।

उपर्युक्त विवरण के अवलोकन से यह अभिव्युञ्जित होता है कि वेदों में मुख्यतया ब्रह्म विद्या का प्रतिपादन हुआ है। हमारे ऋषि, मुनि ने वेद को गोपनीय एवं प्रतीकात्मक भाषा में इसलिये लिखा कि अनाधिकारी व्यक्ति ब्रह्मविद्या के अयथार्थ स्वरूप को ग्रहण कर उसके स्वरूप को विकृत न बना सके। उपदेश दिये जाने पर भी अधिकारी व्यक्ति की बुद्धि ही ब्रह्मविद्या को ग्रहण कर सकती है।

यही कारण है कि विधिवत् संस्कार करके ब्रह्मज्ञानी गुरु द्वारा ही वेद की शिक्षा दी जाती थी। वास्तव में यौगिक चक्षु से संपन्न व्यक्ति ही वेद में वर्णित विद्या का यथार्थ तात्पर्य समझ सकता है एवं उसके यथार्थ स्वरूप का उपदेष्टा हो सकता है।<sup>50</sup>

## उपनिषदों में योग : (पंचकोषों का विशेष विवेचन):

मुक्तिकोपनिषद् में उपलब्ध उपनिषदों की एक सूची दी गई है। उसके अनुसार उपनिषद् 108 हैं जिसमें 103 उपनिषद् ऋग्वेद से, 19 शुक्लयजुर्वेद से, 32 कृष्ण यजुर्वेद से, 16 सामवेद से तथा 31 अथर्ववेद से सम्बन्ध हैं। मुक्तिकोपनिषद् के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि उपनिषदों की संख्या इससे भी कई अधिक है। 108 उपनिषद में भी 12, 13 उपनिषद् (विषय प्रतिपादन की) विशदता एवं प्राचीनता के विचार से नितान्त ही प्रमाणिक माने जाते हैं।<sup>51</sup>

इन उपनिषदों में योगप्रक्रिया तथा **योगाङ्गों** का विस्तार से वर्णन है।

**श्वेताश्वतरोपनिषद्नुसार-** “योग द्वारा ही ‘परमात्म साक्षात्कार’ करके मुक्ति पायी जा सकती है।”

**क्षुरिकोपनिषद्** - “इस उपनिषद् में आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि एवं समाधि के फल आदि विषय कथित हैं।”

**तेजोबिन्दुपनिषद्** - “इस उपनिषद् के प्रथम अध्याय में परब्रह्म का स्वरूप विवेचित है। इसमें योग के ये पन्द्रह अंग निर्दिष्ट- यम्, नियम, आसन, प्रत्याहार, धारणा, समाधि इत्यादि जीवनमुक्ति एवं विदेहमुक्ति आदि का वर्णन भी मिलता है।”

**ध्यानबिन्दु उपनिषद्** - “इस उपनिषद् में प्रणवध्यान, त्रिमूर्ति ध्यान, मूलाधारादि, चक्र, नाड़ी, मुद्रा, वज्रोलि, सिद्धि, नादानुसन्धान द्वारा आत्मावबोधन का उपदेश है।”

**दर्शनोपनिषद्** - “इस उपनिषद् में अष्टांगयोग, दस यम-नियम, कुण्डलीस्थान नाड़ी, चक्र शुद्धि, मुद्रा आदि यौगिक क्रियाओं का वर्णन है।”

**मण्डलब्राह्मणोपनिषद्** - “इस उपनिषद् में अष्टांग योग, मुद्रासिद्धि, प्रणवोपसाना, उन्मनी अवस्था द्वारा ‘अमनस्का सिद्धि’ आदि का वर्णन है।”

योग चूड़ामण्युपनिषद् - “इसमें प्राणायाम, मुद्रा प्रणव जप, स्वाधिष्ठानादि चक्र, नाड़ी आदि तत्व विवेचित हैं।”

योग शिखोपनिषद् - “इस उपनिषद् में कुण्डलिनी चालन नादानुसन्धान, जप, कुम्भक, बन्ध आदि का अभ्यास एवं राजयोग, लययोग, हठयोगादि चार योगों का उल्लेख है।”<sup>52</sup>

उपनिषद् भी योग दर्शन की तरह आत्मसाक्षात्कार के मार्ग में प्रणव (ओंकार) के अतिशय उपयोगिता का गान करती है।<sup>53</sup> प्रश्नोपनिषद् में सत्य काम के प्रति ऋषि का कथन है कि “हे सत्य काम इस पर एवं अपर ब्रह्म रूप ओंकार के मात्रा ध्यान विद्वान् पुरुष ब्रह्मनुभव की प्राप्ति करते हैं।”<sup>54</sup> छन्दोग्योपनिषद् - ‘ओंऽम्’ जिसका नाम है और जो कभी नष्ट नहीं होता, उसकी उपासना करनी चाहिए।<sup>55</sup> यही भाव उपनिषदों में अन्यत्र भी व्यक्त किया गया है। उपनिषदों में प्रणवों की साधनता को धनुषादि के रूपक द्वारा अत्यन्त कुशलतापूर्वक स्पष्ट किया गया है- “प्रणव धनुष है, आत्मा बाण है एवं ब्रह्म उसका लक्ष्य कहा जाता है। उसका सावधानीपूर्वक बन्धन करना चाहिए।”<sup>56</sup> योगोपनिषदों में 7,200 नाड़ियों का निरूपण है दर्शनों उपनिषद् में इन 7,200 नाड़ियों में से 14 नाड़ियों को प्रमुख बताया गया है। योगोपनिषदों में ‘नाड़ी शुद्धि’ की अनिवार्यता पर बल दिया गया है। योग कुण्डलीन्युपनिषद् में कुण्डलिनी जागरण के दो उपाय व विधियाँ बताई गई हैं - 1. सरस्वती नाड़ी का संचालन 2. प्राणायाम ।

जिन स्थलों पर बहुत सी नाड़ियाँ मिलती हैं उन्हें ‘चक्र’ कहा गया है। योगोपनिषदों में मुख्य रूप से इन षट्चक्रों का विवेचन है- 1. मूलाधार 2. स्वाधिष्ठान 3. मणिपूरक 4. अनाहत 5. विशुद्धि एवं 6. आज्ञा चक्र। इसी प्रकार ध्यान - बिन्दूपनिषद्, योगचूड़ामण्युपनिषद्, वराहीपनिषद् तथा अन्य उपनिषदों में इसका विवेचन उपलब्ध होता है।<sup>57</sup> श्वेताश्वतरोपनिषद् में ध्यान के विषय में कहा गया है कि उन्होंने ‘ध्यान-योग का अनुसरण कर अपने गुणों से आच्छादित परमात्मशक्ति का साक्षात्कार किया जो (परमात्मा) अकेले काल से लेकर समस्त कारणों का अधिष्ठाता है।’<sup>58</sup> ‘उस परमात्मा

के अभिध्यान से उसमें मनोयोग करने से एवं तत्व की भावना करने से विश्व रूप माया की निवृत्ति होती है।<sup>59</sup>

श्वेताश्वतरोपनिषद् में योगाभ्यास के फल उल्लिखित किये गये हैं- 'जब अभ्यास का प्रभाव होने लगता है तब पहले यह रूप दिखायी देते हैं - कुंहरा, धूप, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू, विद्युत, बिल्लौर और चन्द्र यह सब रूप दिखायी देने के पश्चात जब शान्त हो जाते हैं तब ब्रह्म का प्रकाश होता है।'<sup>60</sup> जब पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश प्रकट होते हैं अर्थात् पंच तत्वों का जय हो जाता है तब फिर योगी के लिए न जरा है, न रोग है, न दुःख है क्योंकि उसने वह शरीर प्राप्त कर लिया है जो योग की अग्नि से बना है।<sup>61</sup> इसके बाद योगी को आत्मा के 'शुद्ध स्वरूप' का साक्षात्कार होता है फिर देही (जीवात्मा) आत्मतत्त्व (आत्मा का शुद्ध स्वरूप) देखकर शोक से पार हुआ कृतार्थ हो जाता है।

योग साधना द्वारा जब चित्त पूर्णतया निरुद्ध हो जाता है एवं 'परमात्म स्वरूप' का अपरोक्ष रूप से साक्षात्कार होता है। उस समय मुक्ति की अवस्था को प्राप्त योगी की स्थिति का वर्णन भी उपनिषदों में प्राप्त होता है।<sup>62</sup>

उपनिषदों में पंच कोषों द्वारा आत्मा के पाँच मुख्य आवरणों का उल्लेख जिनके द्वारा क्रमशः स्थूल आवरण में आत्म भावना का निषेध करते हुए ब्रह्म स्वरूप के साक्षात्कार की बात बताई गयी है। ये कोष हैं-1. अन्नमयकोष 2. प्राणमयकोष 3. मनोमयकोष 4. विज्ञानमयकोष 5. आनन्दमयकोष। प्रत्येक कोषों में आलम्बन का अभाव करते-करते अन्त में अभाववृत्ति का भी अभाव करके निरालम्ब समाधि की सिद्धि होती है।

पंच कोषों का वर्णन सर्वप्रथम तैत्तरीय उपनिषद् में आया है।<sup>63</sup>

## 1. अन्नमयकोषः

अन्नमयकोष पंच महाभूतों के सात्विक अशों से बनता और बढ़ता है अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश के सात्विक परमाणुओं को गर्भगत जीव माता के रूधिर से खींच लेता है और निरन्तर खींचता चला जाता है, जब तक कि गर्भ से बाहर नहीं आ जाता। अन्नमय

कोष स्थूल आहार के अभाव में कुछ मास तक एवं जलाहार के बिना, कुछ दिनों तक श्वास-प्रश्वास के बिना, कतिपय मिनटों तक तथा आकाशीय-आहार के बिना कुछ सैकण्ड ही जीवित रह सकता है। पंचभूत अन्नमयकोष के भीतर बाहर आते जाते रहते हैं। अन्नमय कोष इनके द्वारा भी पुष्टि तथा जीवन पाता रहता है और जीव के स्थूल भोग एवं शान्तिधाम मोक्ष को सिद्ध करता है। जीवात्मा का कर्म-विपाक तीन प्रकार से है- 1. जागृत अवस्था 2. स्वप्नावस्था 3. सुषुप्तिवस्था। इस संघन 'अन्नमय कोष' में हमें आत्म-साक्षात्कार कहाँ हो सकता है, 'प्रकृति-पुरुष-विवेक' कैसे और कहाँ हो सकता है?, इसके लिए महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग के प्रथम चारों अंगों को साधने को बतलाया है।

## 2. प्राणमयकोषः

प्राणमयकोष जिनसे बनता है वे सब 10 प्राण हैं और उनमें प्राण के 5 प्रमुख भेद तथा 5 उपभेद हैं। वायु महाभूत का सात्विक अंश प्राण के रूप में मानव देह में विद्यमान है जो वायु के सत्वप्रधान अंश से उत्पन्न हुआ है।<sup>64</sup>

## 3. मनोमयकोषः

यह मन पर निर्भर है और इसमें स्वार्थमय संकल्प है।

## 4. विज्ञानमयकोषः

यह बुद्धि और उसके कार्यों पर निर्भर है इसमें विषय और विषयी का भेद लिए हुए द्वैतात्मक ज्ञान है।

## 5. आन्नदमयकोषः

इसमें विषयी और विषय के भेद से रहित आन्नद है। यह अनन्त पारमार्थिक और पूर्ण है यह आत्मा का कोष नहीं बल्कि उसका साध्य है। आत्मा ही जीवात्मा का यथार्थ

तत्व है, यही ब्रह्म है। इसके ज्ञान से जीव के बन्धन छूट जाते हैं। यह ज्ञान अप्राधानोभूती से होता है।<sup>65</sup>

अतः अन्नमयकोष आहार से बनाता है जो हमारा शरीर है तथा अन्नमयकोष के विकास की उपलब्धियाँ हैं- पवित्रता, संयम, निष्ठा, सक्रियता एवं सिद्धि। इसके भीतर प्राण क्रियाशील रहता है यह आत्मा की दूसरी परत है इसे प्राणमयकोष कहते हैं। इसके विकास की उपलब्धि हैं - पराक्रम, साहस, उत्साह तथा सिद्धि - प्रतिभा। इससे भिन्न अन्दर मन का अस्तित्व है। यह मनोमयकोष है, इसके विकास की उपलब्धि है - एकाग्रता, दृढ़ता, स्थिरता, सन्तुलन और सिद्धि। कामनाओं की पूर्ति कामनाओं की समाप्ति, आप्तकाम स्थिति है। इससे भिन्न बुद्धि (विज्ञान) का अस्तित्व है जो सभी कार्यों को निर्देशित करती है। यह हमारा विज्ञानमयकोष है इसके विकास की उपलब्धि - आत्मभाव का विस्तार, सूक्ष्म जगत में प्रवेश, परोक्ष ज्ञान और सिद्धि - दिव्यदृष्टि है। इसमें भी भिन्न और अन्दर आत्मा का आन्नदमयकोष है। इसके विकास की उपलब्धि है -स्वर्ग अनुभूति, बन्धन मुक्ति, ईश्वर प्राप्ति, सन्तुष्टि, तृप्ति, शान्ति एवं सत्चित् आनन्द का अनुभव। इस तरह जागृत पंचकोष व्यक्तित्व विशिष्ट एवं दिव्य उपलब्धियों तथा सिद्धियों से सम्पन्न बनाते हैं।<sup>66</sup> वास्तविक आत्मा इन पांचों आवरणों (कोषों) से परे है। इन्हीं पांच कोषों को तीन समूहों में वर्गीकृत किया गया है, जो है - स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर। स्थूल शरीर में अन्नमय ओर प्राणमय कोष आते हैं। इसमें पांच तत्वों, पांच प्राणों का समावेश है। सूक्ष्म शरीर में मनोमयकोष और विज्ञानमयकोष आते हैं।

इन दोनों को चेतन मस्तिष्क और अचेतन मानस कह सकते हैं, कारण शरीर में आनन्दमय कोष आता है।<sup>67</sup> आनन्दमय कोष वास्तव में आत्मा का आवरण नहीं है क्योंकि यह जीवात्मा का सार तत्व है। व्यक्तित्व का केन्द्रिय तत्व आत्मा स्वयं में पूरी तरह से स्वतंत्र है और आनन्दमय कोष में आत्मा की अनुभूति आनन्द के रूप में होती है जो कि एक तरह से मानवीय व्यक्तित्व का चरमोत्कर्ष भी है।<sup>68</sup> शरीर और आत्मा के सम्बन्ध को मैत्री उपनिषद् में भली-भाँति समझाया गया है। शरीर को रथ और आत्मा को इसका

सारथी बताया गया है।<sup>69</sup> ज्ञानेन्द्रियों को पांच लगाम कहा गया है और पांच कर्मेन्द्रियों को इसके पांच घोड़ों की संज्ञा दी गयी है।<sup>70</sup> यही वर्णन कठोपनिषद् में आया है और इसका कर्म भी बताया गया है।<sup>71</sup>

इन्द्रियों से परे प्राण का अस्तित्व है, प्राण से परे मन आता है, मन से भी सूक्ष्म बुद्धि से भी परे महान् आत्मा का अस्तित्व है। उससे भी परे अव्यक्त परम सत्ता है।<sup>72</sup>

अज्ञान के कारण जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरूप को भूले रहती है और बाह्य आवरणों एवं शरीर के साथ अपनी पहचान बनाती है। इसी अनुरूप तरह-तरह की इच्छाओं एवं वासनाओं में आबद्ध होकर एक सीमित जीवन जीने के लिए बाधित होती है, जो कि आत्मा की स्वस्थ एवं आनन्दमयी स्थिति से सर्वथा दूर होती है। यौगिक साधनाओं द्वारा क्रमशः जीवात्मा अपने कोषों को साधते हुए आनन्दमयकोष की स्थिति में पहुँचता है। जहाँ जीवात्मा समस्त इच्छाओं से मुक्त हो जाता है और अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित हो जाता है और सर्वव्यापी ब्राह्मीचेतना से जुड़ जाता है।<sup>73</sup>

आनन्दमयकोष जाग्रत होने पर जीव अपने को अविनाशी ईश्वर अंश, सत्व, शिव, सुन्दर मानता है तथा शरीर, मन और साधन एवं सम्पर्क परिस्कृत को मात्र जीवनोद्देश्य के उपकरण मानता है। यह स्थिति ही आत्मज्ञान कहलाती है। यह उपलब्ध होने पर मनुष्य हर घड़ी संतुष्ट एवं उत्साहित पाया जाता है। जीवन मंच पर वह अपना अभिनय करता रहता है। उसकी संवेदनाएं भक्तियोग, विचारणाएं ज्ञानयोग और क्रियाएं, कर्मयोग जैसी उच्च स्तरीय बन जाती हैं।<sup>74</sup>

## गीता में योग:

“गीता सभी उपनिषदों, पुराणों एवं दर्शन शास्त्रों का सार है। इसका प्रतिपाद्य विषय योग है। योग के आदि प्रवर्तक योग-योगेश्वर श्री कृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन के माध्यम से जन साधारण को पवित्र योग विद्या का उपदेश दिया है।

जीव क्या है? एवं परमात्मा क्या है? तथा योग को अपनाकर किस प्रकार मनुष्य शाश्वत सुख को प्राप्त कर सकता है? आदि सभी रहस्यपूर्ण बातें परमयोगी श्री कृष्ण ने अपने श्रीमुख से लोककल्याणार्थ गीता में स्पष्ट किया है। इसके अतिरिक्त जो लोग योग सिद्धान्तों की अवहेलना करके मनमाने ढंग से व्यवहार करते हैं, उनकी क्या गति होती है इसका भी स्पष्ट उल्लेख गीता में लिखा है।<sup>75</sup>

श्री कृष्ण ने गीता में मन के विषय में तथा मन को नियंत्रण करने के लिए बताया है कि - “हे अर्जुन ! यह अत्यन्त चंचल स्वभाव वाला मन अभ्यास और वैराग्य से वश में किया जा सकता है।” अभ्यास क्या करना है? और किस प्रकार करना है?, यह बात समस्त गीता में विशेष रूप से छठे, आठवें, नौवें, बारहवें एवं सत्रहवें अध्याय में सविस्तार समझायी गई है और इसी प्रकार वैराग्य का स्वरूप एवं उसकी साधना का निरूपण 13वें तथा 19वें अध्याय में बड़े सरल रूप में किया गया है।

गीता में यह बात स्पष्ट की गई है कि योग एक प्राचीनतम विद्या है। कल्प के आदि में भी इस विद्या का प्रचार था और उस समय भी इसके उपनिषद योगावतार श्रीकृष्ण ही थे। “हे अर्जुन! मैंने इस अविनाशी योग को कल्प के आदि में सूर्य के प्रति कहा था, सूर्य ने अपने पुत्र मनु के प्रति कहा और मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु के प्रति कहा।” “इस प्रकार परम्परा से प्राप्त हुए इस योग को राजर्षियों ने जाना, परन्तु हे अर्जुन! वह योग विद्या बहुत लम्बे समय से इस पृथ्वी लोक में लुप्त प्रायः हो गई थी। अतः वही पुरातन योग मैंने अब तुझे बताया है क्योंकि तू मेरा भक्त है और प्रिय सखा है।”

“यह योग सभी विधाओं का राजा, सब रहस्यों का राजा अति पवित्र सर्वश्रेष्ठ, प्रत्यक्ष फल देना वाला, धर्म युक्त और साधन करने में बड़ा सुगम और अविनाशी है।”<sup>76</sup>

### योग के अन्तर्विभाग:

गीता में योग के तीन अन्तर्विभाग किए गये हैं- ज्ञानयोग, कर्मयोग तथा भक्तियोग।

## (1) ज्ञानयोगः

दृश्य मात्र सम्पूर्ण जगत माया का कार्य होने से क्षणभंगुर, नाशवान, जड़ और अनित्य है तथा जीवात्मा नित्य चेतन, निर्विकार, अविनाशी, सच्चिदानन्दघन ईश्वर का ही सनातन अंश है। इस प्रकार समझकर परम पुरुष परमात्मा में एकीभाव से नित्य स्थित रहने का नाम ही ज्ञानयोग है। श्रद्धालु और साधनपरायण व्यक्ति ही ज्ञान का अधिकारी है।” श्रद्धालु, संयमी तथा तत्परतापूर्वक साधन में लगे रहना वाला योगसाधक ही ज्ञान को प्राप्त होता है और ज्ञान पाकर वह शीघ्र ही परमात्मा की प्राप्ति रूप परमशान्ति को प्राप्त हो जाता है।<sup>77</sup>

“इसलिए तत्वदर्शी ज्ञानी पुरुषों की शरण में जाकर उनसे उसे जान। तुम्हारे दण्डवत् प्रणाम करने से, भक्तिपूर्वक सेवा करने तथा विनीत भाव से जिज्ञासा प्रकट करने पर वे तत्व को जानने वाले ज्ञानीजन तुम्हें ज्ञान का उपदेश दे देंगे।”<sup>78</sup> गीता के तेरहवें अध्याय में श्लोक संख्या 7 से 11 तक ज्ञान का यथार्थ स्वरूप सविस्तार वर्णित किया गया है।

## (2) कर्मयोगः

“फल और आसक्ति को त्यागकर अपने वर्ण और आश्रम के सभी प्रकार के कर्तव्य कर्मों को भगवत् प्रत्यर्थ करना कर्मयोग कहलाता है। जो व्यक्ति जीवन भर पुण्यमय तथा लोकहित के कार्य को करते रहते हैं किन्तु वह ना तो फल की इच्छा रखते हैं और न अपने को उन कर्मों का कर्ता समझते हैं, वे व्यक्ति कर्मयोगी कहलाते हैं। इस प्रकार अनासक्त भाव से कर्म करने वाला व्यक्ति कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है और राजर्षि जनक की भाँति परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है। फलेच्छा को त्यागकर कर्म करते रहना योगारूढ़ होने का उत्तम साधन है।”<sup>79</sup>

“योगी बनने की इच्छा रखने वाले मननशील पुरुष के लिए योग की प्राप्ति में निष्काम भाव से कर्म करना ही हेतु कहलाता है अर्थात् कर्म करने से ही वह योग प्रवेश

कर सकता है और योगारूढ़ हो जाने पर सर्व संकल्पों का अभाव ही उसके कल्याण का हेतु बन जाता है अर्थात् उसके कर्म स्वयं ही छूट जाते हैं।”

इसलिए भगवान का आदेश है- “हे अर्जुन! आशक्ति को त्यागकर, सफलता और असफलता में समान बुद्धि रखकर योग में स्थित हुआ तू कर्म करता जा, क्योंकि समत्व भाव ही योग कहलाता है।”

“कर्म करने मात्र में तेरा अधिकार है, फल प्राप्ति में नहीं। इसलिए फल की इच्छा भी मत रख और कर्म करना भी मत छोड़।”

उपरोक्त प्रकार से कर्म करने वाला योगी कर्म बन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाता है और वह भगवत् प्राप्ति रूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

यही कर्म योग का स्वरूप है। इस योग को समत्व योग, निष्काम कर्म योग, अनासक्ति योग आदि नामों से भी वर्णित किया गया है।

### (3) भक्तियोग:

जिस साधन में भक्ति की प्रधानता हो, उसे भक्ति योग कहा जाता है। भक्ति योग का वास्तविक स्वरूप गीता के बारहवें अध्याय के श्लोकों में समझाया गया है। इन श्लोकों में परमयोगी श्रीकृष्ण ने भक्ति के द्वारा ईश्वर प्राप्ति के चार सरल उपाय बतलाये हैं और उनमें साधक को सर्वप्रथम यह आदेश दिया है कि वह अपना मन और बुद्धि, ईश्वर में विलीन कर दे। ऐसा करने के उपरान्त वह ईश्वर में ही निवास करेगा, इसमें सन्देह नहीं है। मन और बुद्धि को ईश्वर में लगाने का अर्थ है कि साधक स्वयं को सर्वतोभावेन ईश्वर में अर्पण कर दे, अपना पृथक् अस्तित्व ही अनुभव ही न करे। यदि साधक ऐसा न कर सके तो उसके लिए दूसरा उपाय बताया है - “यदि तू मन को मेरे में लगाने में समर्थ नहीं है तो ध्यानाभ्यास, स्वाध्याय, सत्संग एव संकीर्तन आदि साधनों के द्वारा मुझ परमेश्वर को प्राप्त करने की इच्छा कर। यदि तू पूर्वोक्त प्रकार से योगाभ्यास करने में भी अपने को

असमर्थ समझता है, तो स्वार्थ को त्यागकर तथा मुझ परमेश्वर को ही परम आश्रय परम गति समझकर, निष्काम प्रेमभाव से मनसा, वाचा, कर्मणा मेरे निर्मित ही यज्ञ, दान, तपादि कर्मों को कर।”<sup>80</sup> “यदि कोई मनुष्य यह भी न कर सके तो उसके लिए भगवान ने चौथा उपाय बतलाया है कि वह समस्त कर्मों का फल त्याग दे अर्थात् अपने द्वारा किये जाने वाले सभी शुभाशुभ कर्मों को ईश्वर को अर्पण कर दे।” भक्तियोग को योग दर्शन में ईश्वर प्राणिधान कहा गया है तथा उसे अष्टांग योग का एक महत्वपूर्ण अंग बतलाया गया है। गीता के अनुसार चाहे कोई ज्ञानी हो या कर्म योगी हो अन्त में उसे भक्ति का आश्रय लेना ही पड़ता है।

### ध्यान की विधि एवं उसका फल:

“साधक को चाहिए कि वह अपने योगाभ्यास के लिए किसी एकान्त स्थान का चयन करे। वहाँ वह अकेला बैठकर सब प्रकार की आशाओं और कामनाओं को त्यागकर मन तथा इन्द्रियों पर पूरा नियन्त्रण करके योगाभ्यास करें।”

“पवित्र स्थल पर कुशा, मृगछाला आदि के आसन को बिछाकर सिद्धासन, पद्मासन आदि किसी एक आसन में बैठ जाय। आसन न तो अधिक ऊँचा होना चाहिए और ना ही नीचा।”

“उस आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करता हुआ और इन्द्रियों पर पूरा नियन्त्रण करके आत्मशुद्धि के लिए योगाभ्यास करे।”

“अभ्यास काल में साधक का मेरूदण्ड बिल्कुल सीधा होना चाहिए अर्थात् छाती, गर्दन और सिर ये तीनों एक सूत्र में होने चाहिए। इस प्रकार समकाय शिरोग्रीव होकर नसिका के अग्रभाग को देखता रहें, दिशा-प्रदिशाओं को न देखें।”

“ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करता हुआ एवं सर्वथा निर्भय, शान्त, अन्तःकरण वाला सावधान होकर मन को वश में करके ईश्वरपरायण होकर योगाभ्यास करे।”<sup>81</sup>

“इस प्रकार आत्मा को निरन्तर परमात्मा के स्वरूप में लगाता हुआ स्वाधीन मन वाला योगी मुझ परमेश्वर में स्थित होकर परमानन्द शान्ति को पा जाता है।”<sup>82</sup>

### समाधि का स्वरूप:

“जिस अवस्था में ध्यानयोग के अभ्यास से निरुद्ध हुआ चित्त पूर्णतया शान्त हो जाता है और जिस अवस्था में परमेश्वर के ध्यान से शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा परमात्मा के दर्शन करता हुआ योगी सच्चिदानन्दघन परमात्मा में सन्तुष्ट रहता है तथा इन्द्रियों के अनुभव से परे, सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्था में अनुभव करता है, जिस स्थिति को पाकर वह योगी भगवत्स्वरूप से चलायमान नहीं होता तथा परमेश्वर की प्राप्ति रूप जिस लाभ को पाकर वह उससे बड़कर और कोई लाभ नहीं समझता, जिस अवस्था को प्राप्त हुये वह भारी से भारी विपत्ति से भी चलायमान नहीं होता तथा जिस अवस्था में दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जाता है, उसी का नाम समाधि है।” उस समाधि रूप योग को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होना मनुष्य मात्र का कर्तव्य है और इसी में मनुष्य जीवन की सार्थकता है।

### सात्विक आहार एवं उचित दिनचर्या:

“योगाभ्यासी का आहार बिल्कुल सात्विक होना चाहिए, उसे चटपटे और उत्तेजक पदार्थों का कदापि सेवन नहीं करना चाहिए, सात्विक आहार क्या है? यह गीता के सतरहवें अध्याय में बतलाया गया है।”<sup>83</sup>

### योगभ्रष्ट की उत्तम गति:

“जो साधक अपने जीवन काल में सिद्धि को प्राप्त नहीं हो पाते बीच में ही उनका शरीरान्त, उनकी साधना अधूरी रह जाती है या क्लिष्ट संस्कारवश जो अन्तकाल में योग

से विमुख हो जाते हैं, ऐसे व्यक्तियों को गीता में योगभ्रष्ट कहा गया है उनकी भी उत्तम गति बतलाई है।”

“वह योगभ्रष्ट पुरुष स्वर्गादि उत्तम लोकों को प्राप्त होकर उनमें वर्षों तक वास करके पुनः पृथ्वी लोक में पवित्र धनवानों के घरों में जन्म लेता है अथवा उन लोकों में न जाकर ज्ञानवान योगियों के कुल में ही जन्म लेता है किन्तु इस प्रकार का जन्म अत्यन्त दुर्लभ है।”

“अनेक जन्मों से अन्तःकरण की शुद्धिरूप सिद्धि को प्राप्त हुआ और अति प्रयत्न से अभ्यास करने वाला योगी सम्पूर्ण पापों से अच्छी प्रकार शुद्ध होकर परम गति को प्राप्त होता है।”

### योगी की परम गति:

“जो योगी अन्तकाल में भक्ति युक्त होकर अपने योगबल से परमेश्वर का स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागता है वह उस दिव्य परमपुरुष परमात्मा को ही प्राप्त होता है।”<sup>84</sup>

ब्रह्मलोक तक के सभी लोकों से जीव को वापिस संसार में आना पड़ता है क्योंकि वे सभी लोककाल की अवधि वाले होने से अनित्य है, किन्तु मैं कालातीत हूँ। अतः मुझको प्राप्त होकर मनुष्य संसार चक्र से छूट जाता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

गीता में योगरूढ़ता (योगसिद्धि) को ही परम कल्याण का हेतु बतलाते हुए मनुष्य को योगरूढ़ होने की बार-बार प्रेरणा दी गई है तथा उसके अनेकों उपाय बतलाये गये हैं एवं यह सिद्ध किया गया है कि कर्म फल, त्याग तथा निष्काम भक्ति से ही मनुष्य योग सिद्धि को प्राप्त हो सकता है। कर्तव्य कर्मों को स्वरूपतः त्याग देना और मन ही मन विषयों का चिन्तन करते रहना योग प्राप्ति में सहायक नहीं हो सकता। काम सब अनर्थों की जड़ है। अतः कामनाओं का त्याग ही सर्वश्रेष्ठ त्याग है। गीता में ज्ञान, कर्म एवं भक्ति को एक दूसरे की प्राप्ति में सहायक माना गया है तथा तीनों का समान महत्व बतलाया

गया है। गीता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें सांख्य का योग में समावेश कर दिया गया है।”<sup>85</sup>

### सांख्ययोगः

“सांख्यदर्शन राग से दूर ले जाने वाला ध्यान है।”

“वृत्तियों के निरोध से ध्यान की सिद्धि होती है।”

“धारणा, आसन तथा अन्य स्वकीय कर्मों अर्थात् अन्य साधनों से वृत्तिनिरोध (ध्यान) की सिद्धि होती है।”

“वृत्तिनिरोध में प्राणायाम की उपयोगिता है।”

“स्थिरतापूर्वक सुख का अनुभव करना आसन है।”<sup>86</sup>

“सांख्यदर्शन के अनुसान ध्यान के लिये रजसगुण का दमन आवश्यक है क्योंकि वही चित्त को चलायमान रखता है। जब मन में तमस और रजसू गुणों पर सत्वगुण का अधिकार हो जाता है, तो वह ध्यानयुक्त हो जाता है। इसके लिये चित्त की वृत्तियों का निरोध किया जाता है। सत्वगुण बढ़ने के साथ चित्तवृत्तियों का निरोध होता जाता है। इसके लिये चित्त की वृत्तियों का निरोध किया जाता है। इसके लिये वैराग्य और विवेक की आवश्यकता होती है। सांख्यदर्शन में देह को पृथ्वी, जल, अग्नि, प्रकाश और वायु इन पंचतत्वों से निर्मित माना जाता है। इसमें पृथ्वी तत्व प्रधान है। आत्मा देह से भिन्न है, आत्मा स्वयं साध्य है जबकि देह उसका साधन है। पाप और पुण्य के समाप्त हो जाने पर आत्मा देह छोड़ देती है। अविवेक के कारण सामान्य जन आत्मा और देह में अंतर नहीं कर पाता।”<sup>87</sup> सांख्य संसार को दुःखमय मानता है। जरा, मृत्यु, रोग, जन्म इत्यादि सांसारिक दुःखों का प्रतिनिधित्व करते हैं। विश्व दुःखों से परिपूर्ण है क्योंकि समस्त विश्व गुणों के अधीन है। जहाँ गुण हैं, वहाँ दुःख हैं।

संसार को दुखात्मक मानकर सांख्य भारतीय विचारधारा तथा योगदर्शन की परम्परा का पालन करता है, क्योंकि प्रायः भारत के सभी दर्शनों में संसार की दुखमयता पर जोर दिया गया है।

*सांख्य के अनुसार विश्व में तीन प्रकार के दुःख पाये जाते हैं : -*

### 1. आध्यात्मिक दुःखः

आध्यात्मिक दुःख उस दुःख को कहा जाता है जो मनुष्य के निजी शरीर और मन से उत्पन्न होते हैं। मानसिक और शारीरिक व्याधियाँ ही आध्यात्मिक दुःख हैं। इस प्रकार के दुःखों का उदाहरण भूख, सरदर्द, क्रोध, भय द्वेष इत्यादि हैं।

### 2. आधिभौतिक दुःखः

आधिभौतिक वह है जो ब्राह्म पदार्थों के प्रभाव से उत्पन्न होता है। जैसे काँटे का गड़ना, तीर का चुभना और पशुओं के द्वारा फसल का ध्वंश हो जाना आदि को आधिभौतिक दुःख कहा जाता है वह दुःख मनुष्य, पशुओं, पक्षियों आदि से प्राप्त होता है।

### 3. आधिदैविक दुःखः

इस प्रकार का दुःख ब्राह्म और आलौकिक कारण से उत्पन्न होता है, जैसे- नक्षत्र, भूत-प्रेतादि से प्राप्त दुःख आधिदैविक दुःख कहा जाता है। सर्दी, गर्मी आदि से मिलने वाले दुःख भी आधिदैविक दुःख हैं।

“मानव स्वभावतः इन तीन प्रकार के दुःखों से छुटकारा पाना चाहता है। चिकित्सा विज्ञान इन दुःखों से अस्थायी छुटकारा दिला सकती है। परन्तु मानव इन दुःखों से सदा के लिये छुटकारा पाना चाहता है। वह केवल वर्तमान दुःख से ही बचना नहीं चाहता है अपितु भविष्य में मिलने वाले दुःखों से भी छुटकारा पाना चाहता है। चिकित्सा-विज्ञान उसकी इस

इच्छा की तृप्ति करने में असमर्थ है। दुःखों का पूर्ण विनाश मोक्ष से ही संभव है। *मोक्ष का अर्थ* - त्रिविध दुःख का अभाव है। मोक्ष ही परम् अपवर्ग या पुरुषार्थ है।<sup>88</sup>

“आत्मा का प्रतिबिम्ब बुद्धि पर प्रतिबिम्बित होने पर ज्ञान का उदय होता है। बुद्धि जड़ है। चैतन्य आत्मा का धर्म है, परन्तु आत्मा को विषयों के ज्ञान के लिये बुद्धि, मन और इन्द्रियों का सहारा लेना पड़ता है।” इसी कारण आत्मा के सर्वव्यापी होने पर भी हमें सर्वदा समस्त विषयों का ज्ञान नहीं रहता। इन्द्रियों और मन की क्रियाओं से विषयों का आकार बुद्धि पर अंकित हो जाता है। बुद्धि पर जब आत्मा के चैतन्य का प्रभाव पड़ता है तब उन विषयों का ज्ञान होता है। बुद्धि की सहायता से पुरुष अपना और प्रकृति का भेद समझकर अपने यथार्थ स्वरूप की विवेचना कर सकता है। इसलिये बुद्धि आत्मा से भिन्न है। बुद्धि तीनों गुणों - सत्त्व, रज, तम से युक्त होने पर गुणों जैसे कार्य करती है। आत्मा समस्त भौतिक गुणों से परे है। इन्द्रियों और मन की क्रिया बुद्धि के लिये है और बुद्धि की क्रिया आत्मा के लिये है, आत्मा त्रिगुणातीत है। वह मोक्ष के लिये प्रकृति के संपर्क में आता है। जबकि प्रकृति अभिव्यक्ति के लिये आत्मा के संपर्क में है। मोक्ष मिलने पर आत्मा का देह से सम्बन्ध नहीं रहता। सांख्य द्वारा बतलाई ग्यारह इन्द्रियों में मनस में दोनों प्रकार की इन्द्रियां आ जाती हैं। मन का सहयोग, ज्ञान और कर्म और दोनों में आवश्यक है। यह आभ्यन्तरिक इन्द्रिय है और यही अन्य इन्द्रियों को उनके विषयों की ओर प्रेरित करता है। मन की इस क्रिया के दो प्रयोजन हैं - भोग और अपवर्ग। ये ही दो प्रयोजन पुरुष और प्रकृति के संयोग कहे जाते हैं। इन प्रयोजन के पूर्ण हो जाने पर मनस की क्रिया समाप्त हो जाती है। इस प्रकार प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया में वस्तु बाह्य इन्द्रियां, मनस, अहंकार, बुद्धि सब मिलकर पुरुष के भोग के लिये क्रिया करती है। बुद्धि पर जब आत्मा के चैतन्य का प्रकाश पड़ता है तब ज्ञान का उदय होता है। सांख्यदर्शन के अनुसार आदर्श व्यक्तित्व “विवेकी” पुरुष, कूटस्थ, नित्य एवं परमार्थ सत्य हैं क्योंकि उसमें प्रकृति और पुरुष की पार्थक्य अवस्था का विवेक ज्ञान होता है। जिसमें यह ज्ञान है वही विवेकी है तथा वह आदर्श व्यक्तित्व वाला भी है। विवेक ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति शरीरषपात के

अनन्तर कैवल्य, मोक्ष की स्थिति प्राप्त करता है। मोक्ष प्राप्त करने पर वह सांसारिक दुःखों में तथा पुनर्जन्म के चक्कर में नहीं फंसता। यही विवेकी पुरुष तथा योग का अंतिम लक्ष्य है।

भूतकाल से स्मृति का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए सांख्यदर्शन में कहा गया है “स्मृति अतीत ज्ञानम्” अर्थात् स्मृति अतीत का ज्ञान है। इसी प्रकार अन्य स्थान पर स्मृति में संस्कार का महत्व बतलाते हुए कहा गया, “स्मृति संस्कार जन्यम् ज्ञानम्” अर्थात् स्मृति संस्कार से उत्पन्न ज्ञान है। संस्कार के कारण कोई वस्तु भूतकाल में अनुभव की गई वस्तु प्रतीत होती है। योगदर्शन में भी स्मृति की इसी प्रकार की व्याख्या उपस्थित की गई है। पतंजलि के अनुसार “अनुभूतविषयासमसंप्रमोषःस्मृति” अर्थात् स्मृति वह मनोवृत्ति है जो कि किसी वस्तु को भूतकाल के देखने के ज्ञान पर आधारित है।

सांख्य और योग के अनुसार भी सुख की अनुभूति सत्व के कारण होती है। दूसरी ओर रजस गुण दुःख उत्पन्न करता है। तमस से निराशा होती है। ये सब अन्तःकरण की वृत्तियां हैं, आत्मा निःसर्ग है। वह सुख-दुःख दोनों से परे है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार मनुष्य अज्ञान के कारण सुख-दुःख की मानसिक वृत्तियों को आत्मा का ज्ञान मान बैठता है। इसलिये विज्ञानभिक्षु ने कहा है कि “सर्वोच्च सुख इच्छाओं के विनाश में है। इसी प्रकार का मत लगभग सभी भारतीय दार्शनिकों के विचारों में पाया गया है। योग सूत्र के रचयिता पतंजलि ने धर्म और अधर्म को क्रमशः सुख और दुःख का कारण माना है।”<sup>89</sup>

सांख्य तथा योग दोनों अज्ञान (अविद्या) को दूरकर मोक्ष प्राप्ति का मार्ग बतलाते हैं। भारत में योग का विकास सर्वप्रथम वैदिक काल से चला आ रहा है तथा योग के प्रणेता भगवान हिरण्यगर्भ हैं। यह स्वयं पतंजलि ने अपने प्रथम पाद के प्रथम सूत्र में स्वीकार किया है। चारों वेदों में भी योग विषय पर चर्चा की गयी है। उपनिषद् वेदों के सार होने से उपनिषदों में भी योग विषय की धारणाएं दिख पड़ती हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में पंचकोश-अन्नमय, प्राणमय, विज्ञानमय, आनन्दमय पर योग भूमिका का वर्णन मिलता है। गीता में ज्ञान, कर्म, भक्तियोग तथा ध्यान की विधि एवं उसका फल का वर्णन करते हुए समाधि का

स्वरूप बतलाया गया है। सांख्य योग तीन दुःखों को बतलाता है। इन दुःखों को योग साधन द्वारा दूर कर मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है। सांख्य योग में आसन, धारणा, ध्यान इत्यादि का वर्णन मिलता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेदों में वर्णित योग ही उपनिषद्, गीता व सांख्य में बतलाये योग एक ही हैं। इसलिए अब हम योग के आधार प्रशाखा हठयोग, राजयोग, इत्यादि पर विस्तृत चर्चा करेंगे, इसी उद्देश्य से हम तृतीय अध्याय की ओर बढ़ते हैं।

## सन्दर्भ ग्रन्थ

1. न वेदशास्त्रादन्यतु किचिच्छासं हि विद्यते ।  
निससृतं सर्वशास्त्रं मु वेदशास्त्रात् सनातनात् ॥ या०स्मृ०
2. मनु०, 2/168 ।
3. मनु०, 12/94 ।
4. प्रत्यक्षणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।  
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥
5. शव ब्रा०, 11/5/6/1 ।
6. स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती, वेदों में योग, यौगिक शोध संस्थान, योग धाम, आर्यनगर  
ज्वालापुर, हरिद्वार, 1999, पृ०-51 ।
7. प्रो० रामहर्ष सिंह, योग एव यौगिक चिकित्सा, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी  
1999, पृ०-51 ।
8. ऋग्०पद०, पृ०-4416 ।
9. यतु० पद०, पृ०-67 ।
10. साम० पद०, पृ०-64 ।
11. अथ० पद० द्रष्टव्य ।
12. ऋग्०-1/38/11 ।
13. स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती, वेदों में योग विद्या, यौगिक शोध संस्थान, योगधाम  
आर्यनगर ज्वालापुर हरिद्वार, 1999, पृ०-115 ।
14. ऋग्०-8/100/5 ।
15. सामवेद, पृ०-933 ।
16. साम०, पृ०-1744 ।
17. साम०-1084; ऋग्०, पृ०-1/30/13 ।

18. साम0-324।
19. साम0-1860।
20. यजु0-6/14।
21. धृतिः यजु0-8/51,18/7,22/11,34/3।
22. यजु0 34/3।
23. यजु0 12/67, ऋग् भा0 भू0 उपा0 वि0।
24. ऋग्0 9/11/6।
25. अथ0 114/7 - 10/7/31 - 11/4/6 - 11/4/9।
26. राजकुमारी पाण्डेय, भारतीय योग परम्परा के विविध आयाम, राधा पब्लिकेशन्स, 4378/4 बी, असारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, 1993, पृष्ठ-38, 39।
27. स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती, वेदों में योग विद्या, योगिक शोध संस्थान, योगधाम, आर्य नगर ज्वालापुर, हरिद्वार, 1999, पृ0-47।
28. युजेवां ब्रह्म पूवर्य नमोभिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः।  
शृण्वन्तु शिवे अमृतस्य पुत्रा आ चे धामानि दिव्यानि तस्युः॥ यजु0-11/5
29. स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती, वेदों में योग, यौगिक शोध संस्थान, योग धाम, आर्यनगर, ज्वालापुर, हरिद्वार 1999, पृ0-5।
30. साम0- अ0-1/2/10।
31. ऋ0 - 1/34/9।
32. यजुर्वेद, वाजसनेचि संहिता, 32/14।
33. अथर्ववेद-10/4/8/43। इन मंत्रों में भी शरीर विज्ञान का कथन है- ऋग्वेद-  
1/164/15, 1/22/8/2।
34. अथर्ववेद 1/34/3।
35. ऋग्वेद 5/59/2, अथर्ववेद 1/1/4, 10/7/19 एवं 10/7/20।
36. ऋग्वेद 10/117/5।

37. यजुर्वेद 40/1।
38. अथर्ववेद 1/5/7, 10, 24।
39. अथर्ववेद 19/43/1,11/5/10/11 एवं 6/22/4 (में तप का वर्णन मिलता है)।
40. यजुर्वेद 40/2 के इसी भाव को गीता 18/66 में भी व्यक्त किया गया है।
41. यजुर्वेद 19/30 इसको स्वामी दयानन्द सरस्वती अपने भास्य में स्पष्ट किया है।
42. यजुर्वेद 20/24 दयानन्द भास्यानुसार।
43. यजुर्वेद, 17/2।
44. अथर्ववेद - 17/2।
45. यजुर्वेद - 34/44।
46. यजुर्वेद - 31/15।
47. यजुर्वेद - 31/15।
48. सामवेद पूर्व आर्थिक -2/3/1।
49. यजुर्वेद - 11/1।
50. राजकुमारी पाण्डेय, भारतीय योग परम्परा के विविध आयाम, राधा पब्लिकेशन्स, 4378/4 बी, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, 1993, पृष्ठ-48।
51. आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीयदर्शन,चौखम्बा ओरियन्टालिया तृ0सं0-1984, पृ0 -37, 38।
52. राजकुमारी पाण्डेय, भारतीय योग परम्परा के विविध आयाम, राधा पब्लिकेशन्स,4378/4 बी0 अंसारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली, 1993 पृ0 53,57।
53. सन्यासोपनिषद - 2/123।
54. प्रश्नोपनिषद - 5/2।
55. छान्दोग्योपनिषद, पृ0-1।
56. मुण्डकोपनिषद- 2/2/4।

57. राजकुमारी पाण्डेय, भारतीय योग परम्परा के विविध आयाम, राधा पब्लिकेशन्स, 4378/4, बी0 अन्सारी रोड़ दरियागंज, नई दिल्ली, 1993, पृ0 75,78।
58. श्वेताश्वतरोपनिषद्- 1/1/3।
59. श्वेताश्वतरोपनिषद्।
60. श्वेताश्वतरोपनिषद् - 2/11।
61. श्वेताश्वतरोपनिषद्- 2/12।
62. राजकुमारी पाण्डेय, भारतीय योग परम्परा के विविध आयाम, राधा पब्लिकेशन्स 4378/4,बी अन्सारी रोड़, दरियागंज, नई दिल्ली, 1993, पृ0 80,84।
63. तैत्तरीय उपनिषद् - 2,3,4।
64. श्री योगेश्वरानन्द परमहंस, आत्म विज्ञान, योग निकेतन ट्रस्ट, 30ए-78, पंजाबी बाग, नई दिल्ली, 1996, पृ0- 67, 68, 97।
65. डा0 रामनाथ शर्मा, भारतीय मनोविज्ञान, एटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रिब्यूटर्स, नई दिल्ली, पृ0 37, 38।
66. श्री सुरेश वर्णमाला, योग और मानसिक स्वास्थ्य, न्यू भारती बुक कॉर्पोरेशन, दिल्ली, 2002, पृ0 45 तथा मन्दागिनी श्री माली, प्रज्ञापुरुष का समग्र दर्शन, पृ0 229-233।
67. पं0 श्री रामशर्मा आचार्य, वाङ्मय खण्ड-13, गायत्री की पंचकोशी साधना एवं उपलब्धियाँ पृ0- 2,4।
68. Jaseph vrinte, The Concept of Personality in Sri Aurovindo's Integral Yoga Psychology and A Maslow's Humanistic/Transpersonal Psychology, P.-55.
69. मैत्रीय उपनिषद्, 2/3-4।
70. वही - 472।
71. कठोपनिषद् - 1/3

72. कठोपनिषद - 3/10-11।
73. Jaseph Vrinte, The Concept of Personality in Sri Aurovindo's Integral Yoga Psychology and A Maslow's Humanistic /Transpersonal Psychology, P.-55.
74. पं० श्री रामशर्मा आचार्य, वाङ्मय खण्ड-13, गायत्री की पंचकोशी साधना एवं उपलब्धियों, पृ०-2,30।
75. पं० पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री, योग विज्ञान, इन्टरेक्टिव एजुकेशन सिस्टम प्राइवेट लिमिटेड, नाहन, 2002, पृ०-131।
76. गीता - 6/35, 4/1 - 4/2, 3 - 9/2।
77. गीता - 4/38।
78. गीता - 4/34।
79. पं० पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री, योग विज्ञान, इन्टरेक्टिव एजुकेशन सिस्टम, प्राइवेट लिमिटेड, नाहन, 2002, पृ०-136।
80. गीता - 6/3 - 4/48- 4/47- 12/8 - 12/9- 12/10।
81. गीता - 12/11-6/10-6/11-6/12-6/13-6/14।
82. गीता - 6/20 से 6/23 तक।
83. पं० पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री, योग विज्ञान, इन्टरेक्टिव एजुकेशन सिस्टम प्राइवेट लिमिटेड, नाहन, 2002, पृ० 143,147।
84. गीता - 6/41- 6/42 - 6/45 - 8/10।
85. पं० पूर्णचन्द्र पंत शास्त्री, योग विज्ञान, इन्टरेक्टिव एजुकेशन सिस्टम प्राइवेट लिमिटेड, नाहन, 2002, पृ० 149, 150।
86. सांख्यसूत्र - महर्षि कपिल- 3/30-3/31-3/32-3/33-3/34।
87. डॉ० रामनाथ शर्मा, भारतीय मनोविज्ञान, एटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स-बी-2, विशाल एन्कलेव, नई दिल्ली, पृ० 208, 77।

88. प्रो० हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1993, पृ०-257।
89. डॉ० रामनाथ शर्मा, भारतीय मनोविज्ञान, एटलाटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स-बी-2, विशाल एन्क्लेव, नई दिल्ली, पृ०-103, 78, 90, 124, 252, 149, 171।